IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

नागपुरी काव्य में अलंकार योजना

डॉ. राम कुमार
सहायक प्राध्यापक
नागपुरी विभाग
जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा संकाय,
राम लखन सिंह यादव महाविद्यालय, राँची विश्वविद्यालय, राँची।

अलंकारों की पृष्ठभूमि :–

मानव समाज सौंदर्योपासक है। उसकी इस प्रवृत्ति ने ही अलंकारों को जन्म दिया है। शरीर की सुंदरता को बढ़ाने के लिए जिस प्रकार मनुष्य ने भिन्न–भिन्न प्रकार के आभूषणों का प्रयोग किया, उसी प्रकार उसने भाषा को सुंदर बनाने के लिए अलंकारों की योजना की। जिस प्रकार अपनी बातों को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए चमत्कार अथवा रमणीयता का आश्रय लेना पड़ता है उसी प्रकार काव्य को सुंदर एवं प्रभावपूर्ण बनाने के लिए चमत्कार अथवा रमणीयता का आश्रय लेना पड़ता है। यह रमणीयता अथवा चमत्कार काव्य में अलंकार कहलाता है। मानव हृदय में भाव तथा मनोवेग उत्पन्न होते हैं और उनको अभिव्यक्त करने के लिए वाणी निरंतर सचेष्ट रहती है। भावाभिव्यंजना हेतु अपने काव्य को अत्यधिक आकर्षक व चमत्कारी बनाने के लिए हम वाणी को अलंकार धारण कराते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अलंकार मनुष्य के मनोवेगों को चमत्कारी रूप में प्रकट करने का एक साधन है–

श्जीम उवतम मउवजपवदे हतवू नचवद ं उंदए जीम उवतम ीपे ेचममबी ंइवनदके ं पिहनतमण थ्ममसपदहे ूंउच पकमें ंदक संदहनंहमण प्ज नेमक जव पउचतमे दवज तमंसपजल व िजीपदहे इनज जीम ेजंजम व िवदमेष मउवजपवदेण्श

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अलंकार वाणी के विभूषण हैं। इसके द्वारा अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भावों में प्रभविष्णुता और प्रेषणीयता तथा भाषा में सौंदर्य का संपादन होता है।

अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति एवं लक्षण :–

अलंकार शब्द अलम् + कार से मिलकर बना है 'अलम्' का अर्थ है– पर्याप्त या यथेष्ट तथा 'कार' का अर्थ है– कर देने वाला। इस प्रकार अलंकार शब्द का अर्थ है– काव्य को पर्याप्ततः शोभा बढ़ा देने वाले तत्वों को अलंकार कहते हैं। अलंकार की प्रथम काव्यशात्रीय परिभाषा आचार्य दण्डी की है–

''काव्यंशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते''[1]

अर्थात् काव्य के शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ानेवाले धर्म को अलंकार कहते हैं। अलंकार का अर्थ है आभूषण या गहना। जिस प्रकार स्वर्ण आदि के आभूषणों से शरीर की शोभा बढ़ती है, उसी प्रकार जिन उपकरणों से काव्य में सुन्दरता की वृद्धि होती है उन्हें अलंकार कहते हैं। कहीं तो अलंकार शब्द में रहता है, जिसे शब्दालंकार कहते हैं, कहीं अर्थ में रहता है, जिसे अर्थालंकार कहते हैं तथा कहीं शब्द–अर्थ दोनों में अलंकार हो, उभयालंकार कहलाता है। अलंकार के संदर्भ में आचार्यों के मत–

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽ ङ्गद्वारेण जातुचित् ।

हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमाादयः ।।''[2]

जो अंगभूत शब्द और अर्थ के द्वारा उत्कर्ष उत्पन्न कर विद्यमान रहने वाले, अंगी रस का आभूषण की तरह उपकरण करने वाले अनुप्रास और उपमा अलंकार कहे जाते हैं। अलंकार रस के उपकारक होते हैं। तात्पर्य कि रस–व्यंजना के उपकरण स्वरूप शब्द और अर्थ हैं, अलंकार उनमें उत्कर्ष की स्थापना करते हैं।

''शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिषायिनः।

रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।।''[3]

जिस प्रकार बाजूबन्द इत्यादि गहनों से मनुष्य की शोभा होती है उसी प्रकार उपमा आदि काव्य के आभूषण होते हैं। अतः मम्मट के अनुसार अलंकार काव्य के अपरिहार्य धर्म माना है। अलंकारों के स्फुटता को वे अनिवार्य नहीं मानते। जिस प्रकार उष्णता रहित अग्नि को अग्नि नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार अलंकार विहिन शब्द और अर्थ को काव्य नहीं कहा जा सकता –

''अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती''[4]

अलंकारों से काव्य में भावोद्रक की स्थिति उत्पन्न होती है तथा भावों की व्यंजना विचित्र रूप में होने लगती है। व्यंजना सदैव प्रभावोत्पादक करने में सक्षम होता है। ऐसा प्रायः एक भी पद नहीं मिलता जिसमें कि कोई रस तो हो, परन्तु अलंकार न हो।

जब भाव रसानुकूल एवं सुन्दर होते हैं तो अलंकारों का महत्व सहज में ही प्रयोग हो जाता है। बिना अलंकार के काव्य में वह सौन्दर्य और रसात्मकता नहीं आ सकती, जो कि अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग से आती है। आनन्दवर्धन भी रसध्वनि में अलंकारों का महत्व स्वीकार करते हैं। बात केवल यह है कि अलंकारों का प्रयोग अनावश्यक तो नहीं हो रहा। अलंकारों का प्रयोग का दूसरा पक्ष यह भी है कि अलंकार प्रयोग को पूर्वाग्रह से न केवल काव्य का सौन्दर्य कम होगा, अपितु उसकी रसात्मकता में भी बाधा पहुँचेगी। इसलिए यह स्पष्ट है कि अलंकारों का अतिशय और अनावश्यक प्रयोग काव्य की लोकप्रियता, उसकी अभिव्यंजना और सौन्दर्य के साधक न होकर बाधक ही होते हैं।

अलंकारों में शब्दालंकार की अपेक्षा अर्थालंकारों का अधिक महत्व होता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, मानवीकरण, प्रतीक विभावना, विरोधाभास, दृष्टान्त आदि प्रमुख अर्थालंकारों में परिगणित किए जाते हैं। इनमें भी कुछ विशिष्ट हैं। सभी अर्थालंकारों के मूल में उपमान होते हैं। इन्हें अप्रस्तुत, अप्राकरणिक और अप्रकृत भी कहा जाता है। इनमें अप्रस्तुत और उपमान शब्द ही विशेष प्रचलित है। अलंकार के दो पक्ष होते हैं– प्रस्तुत और अप्रस्तुत। अप्रस्तुत पक्ष, प्रस्तुत के ही समानार्थी होते हुए प्रस्तुत कथन को प्रभावशाली अथवा अधिकाधिक मार्मिक या आकर्षक बनाता है। कई बार हमारे समक्ष कोई सुन्दर व्यक्ति या वस्तु देखकर हमारे मुख से उसके समान कोई दूसरा उदाहरण आ जाता है, अर्थात् जो हमारे सामने है (प्रस्तुत) उसकी तुलना या समानता बताने के लिए दूसरा कोई समानार्थी उदाहरण (अप्रस्तुत) हम पेश करते हैं। यह समानार्थी–शब्द या उदाहरण ही अप्रस्तुत होता है।

काव्य सौन्दर्य के विधायक तत्व रस, ध्वनी, अलंकार और व्यंजना आदि सभी अप्रस्तुत का समर्थ और सफल सहयोग पाकर चमक उठते हैं। यदि अप्रस्तुत भावानुकूल और विषयानुवर्ती नहीं है, तो सम्पूर्ण सौन्दर्य विगलित हो जाता है। इतना ही नहीं, साधारणीकरण की दृष्टि से भी अप्रस्तुत विशेष महत्व रखते हैं। यदि उपमान सजीव प्रभावशाली और विषयानुवर्ती होंगे तो साधारणीकरण भी व्याहत व्यर्थ नहीं हो सकता है। साहित्य के इतिहास में ऐसे कई उदाहरण देखने को मिल जायेंगे, जहाँ केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिए असंगत अप्रस्तुतों की योजना हुई है, वास्तव में अलंकार का सुप्रसिद्ध अर्थ है– आभूषण या गहना। जिस प्रकार सुवर्ण आदि के आभूषण शरीर की शोभा बढ़ाती है, उसी प्रकार जिन उपकरणों से काव्य की सुन्दरता आती है, उन्हें (उसी सादृश्य से) अलंकार कहते हैं।

डॉ. यतिन्द्र तिवारी ने अलंकार की परिभाषा देते हुए उसके कार्यों की ओर इशारा किया है– अलंकार का कार्य काव्य में प्रेषणीयता लाना है, वह उक्ति चमत्कार द्वारा रसादिक को अधिक स्पष्ट करता है और काव्य की श्री में वृद्धि करता है।''[5] वर्षों पहले मतिराम ने अलंकार को परिभाषित करते हुए लिखा था–

''रस अर्थन से भिन्न जो, शब्द के नाँहि।

चमत्कार भूषण सरिस, भूषण मानत ताँहि।।''[6]

इनके अनुसार अलंकार वह है जो आभूषण के समान ही चमत्कार युक्त, रोचक और कला–कौशलपूर्ण है। निष्कर्ष यह कि कविता की शोभा बढाने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं।

डॉ. बालेन्द्र शेखर तिवारी ने लिखा है– "आभूषणों के द्वारा जैसे शारीरिक शोभा के उत्कर्ष और चित्त प्रसन्नता का आवाहन होता है, उसी प्रकार अलंकारों के द्वारा कविता के शब्द और अर्थ में चारूता का समावेश होता है, निश्चय ही अलंकार ऐसी शब्दोक्ति के रूप में कविता में साकार होते हैं, जिनसे कविता का सम्पूर्ण स्वरूप और चरित्र विभामय हो जाता है।''[7]

अलंकार और अप्रस्तुत विधान का सम्बन्ध उपमेय और उपमान पर सकेन्द्रित है। उपमान अर्थ–बोध कराने के महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कभी–कभी तो उपमान अमूर्त–वस्तु का बोध कराने में अर्थ–बोध का अनिवार्य आधार बन जाता है। मनुष्यों की यह स्वाभाविक प्रवृति है कि वह किसी नवीन वस्तु को सादृश्य के आधार पर इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहता है कि अन्य व्यक्ति उसे सरलता से सम्भाल सके। इसी के लिए वह नवीन वस्तुओं की तुलना जानी पहचानी–वस्तुओं से करता है। स्थान, गाल आदि की दीर्धता को मापने के लिए हमेशा परिचित वस्तुओं का ही सहारा लिया जाता है, जैसे– हाथ, डग आदि इसके प्रमाण है। लम्बाई के लिए ताल, दीर्घता के लिए पल आदि इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं।

अनुप्रास अलंकार :–

जहाँ व्यंजनों की समता हो, किन्तु उनके स्वर मिलें अथवा नहीं, तो वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है।

'अनुप्रासः शब्दसाभ्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।
व्यंजन सम बरु स्वर असम अनुप्रासऽलंकार।'' – साहित्यदर्पण

'अनुप्रास' शब्द अनु + प्र + आस के मेल या संयोग से बना है, जिसका अर्थ है – वर्णों का क्रमिक विन्यास। (अनु–बार–बार, प्र– प्रकृष्ट तथा आस–रखना) इसमें एक ही क्रम से वर्णों का न्यास होता है, अतः इसे अनुप्रास कहते हैं। अनुप्रास अलंकार में एक वर्ण (अक्षर) के पश्चात् उसी वर्ण की बार–बार आवृत्ति की जाती है तथा रसानुकूल वर्ण–साम्य या वर्ण सादृश्य का विधान किया जाता है। अनुप्रास अलंकार में स्वर या मात्राओं की समता (सादृश्य) आवश्यक नहीं होती, किन्तु व्यंजनों की समता अनिवार्य होती है अर्थात् व्यंजनसाम्य के बिना अनुप्रास की कल्पना संभव नहीं है। इसके आलंकारिक सौंदर्य के लिए आवश्यक है कि एक व्यंजन के बाद उसी के पास ही अन्य व्यंजन की आवृत्ति हो अर्थात् व्यंजनों के आवर्त्तन में अधिक व्यवधान (दूरी) के होने पर अनुप्रास का चमत्कार नष्ट हो जाता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि अनुप्रास में वर्ण–साम्य शब्द के आदि में ही हो, शब्द के अंत में भी अक्षर–साम्य होने पर अनुप्रास होगा। इसमें वृत्तियों के आधार पर भावानुरूप शब्द–सृष्टि होती है और रसानुकूल वर्णों का विन्यास होता है। जैसे –

बंदउँ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।। – रामचरितमानस

यहाँ प्रथम पंक्ति में पद, पदुम तथा पराग पदों (शब्दों) के आदि में 'प' अक्षर की आवृत्ति हुई है और द्वितीय पंक्ति में 'सुरुचि', 'सुबास' और 'सरस' शब्दों के आदि में 'स' व्यंजन की समता है।''[8] अनुप्रास के पाँच भेद होते हैं– छेक, वृत्ति, लाट, श्रुति एवं अन्त्य।

छेकानुप्रास :–

अनेक व्यंजनों की स्वरूप और क्रम से एक बार आवृत्ति हो तो छेकानुप्रास होता है।

'छेको व्यंञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा ।। – साहित्यदर्पण

'छेक' शब्द का अर्थ चतुर है। चतुरजनों को प्रिय होने के कारण इसका नाम छेकानुप्रास हुआ है। छेकानुप्रास में व्यंजन समूह या व्यंजनों की आवृत्ति एक बार होती है और वह भी स्वरूपतः एवं क्रमतः। अभिप्राय यह कि एक ही स्वरूप के व्यंजन आदि उसी क्रम से दूसरी बार भी आएँ तो छेकानुप्रास होगा। नागपुरी के उद्भट कवि घासी राम के एक गीत को उदाहरण के लिए देखा जा सकता है–

अंगे आभूषण साजे, माणिक मणि रूप राजे,

तेहि भीतरे डासल चमके चादर जे ।

वृत्यानुप्रास :–

वृत्तिगत एक वर्ण की अथवा अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति हो तो वृत्यानुप्रास होता है। 'वृत्यानुप्रास' में 'वृत्ति' और अनुप्रास दो शब्द हैं। इसमें रसानुरूप वर्णों का विन्यास होता है अर्थात् प्रत्येक रस के अनुसार वर्णों का प्रयोग किया जाता है। यदि श्रृंगार रस की रचना हो तो वहाँ मधुर वर्ण तथा वीर रस की कविता में कठोर वर्ण व्यवहृत होते हैं। रसानुकूल वर्णविन्यास को वृत्ति कहते हैं अर्थात् नियत वर्णों में निहित रस–व्यंजना–सम्बन्धी व्यापार को वृत्ति कहते हैं–

वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः – काव्यप्रकाश

वृत्ति के अनुकूल वर्ण रचना होने के कारण इसे वृत्यानुप्रास कहा जाता है।''[9]

नागपुरी साहित्य में अलंकारों का पर्याप्त रूप में प्रयोग हुआ है। नागपुरी कवियों ने अपने काव्य में बाहर से अलंकारों का मुलम्मा नहीं लगाया है बल्कि उनके पद संयोजन में अलंकार स्वयं ही आते चले हैं। काव्य में अनायास ही रूपक, उपमा, अनुप्रास, स्मरण, उत्प्रेक्षा, अतिश्योक्ति, पुनरुक्ति प्रकाश आदि अलंकार का प्रयोग हुआ है। रचना करते समय भावों–विचारों की अभिव्यक्ति ही उनके लक्ष्य होते हैं। अतः काव्य में अलंकारों को अलग अस्तित्व नहीं है और न ही अलंकारों को ध्यान में रखकर काव्य सृष्टि की है। फिर भी काव्य में जो अलंकार आये हैं वे काव्य की शोभा में चार चाँद लगाते हैं।

तन में तपल ताप; रति पति मारँय दाप;
कईसे दिल धरब गोईया, यौवन अंगोर जरे हिया मोर ।।''[10]

इस उदाहरण में कवि वृत्यानुप्रास अलंकार का सहारा लिया है। तन, तपल, ताप आदि शब्दों में 'त' वर्ण की क्रमशः आवृत्ति हुई है। अतः यहाँ वृत्यानुप्रास अलंकार है। कवि के काव्य में अलंकारों का स्वतः आ जाना देखने लायक है।

अन्त्यानुप्रास अलंकार :–

जहाँ पद के अंत में एक ही वर्ण और एक ही स्वर की साम्यमूलक आवृत्ति हो वहाँ अन्त्यानुप्रास अलंकार होता है।''[11] नागपुरी काव्य में अन्त्यानुप्रास अलंकार का प्रयोग देखा जा सकता है–

।।छन्द।। हाँजी! गोली बनदूक कर में लिए; सोभत कमर कटार,
सिर में कफन बाईन्ध के; निकला बीर हमार।
।।छन्द।। हाँजी! हाहाकार करन लागे शत्रुदल हैरान,
झारखण्ड के सिंह ने; जीत लिया मैदान।''[12]

इस गीत में प्रथम एवं द्वितीय छंद के अंत में 'आर' एवं 'आन' शब्द की आवृत्ति हुई है। अतः यहाँ अन्त्यानुप्रास अलंकार है।

उपमा :–

दो पदार्थों (उपमेय एवं उपमान) में भिन्नता के होने के पर भी साम्यस्थापन को उपमा कहते हैं।

साधर्म्यमुपमा भेदे। – काव्यप्रकाश

'उपमा' शब्द 'उप' और 'मा' के योग से बना है जिसका अर्थ है– निकट (उप) रखकर तौलना (मा) या मापना। उपमालंकार में दो पदार्थों को निकट रखकर एक–दूसरे के साथ सादृश्य दिखलाई पड़ता है अर्थात् रूप, गुण, क्रिया अथवा प्रभाव किसी भी दृष्टि से समता होने पर ही उपमेयोपमान में सादृश्य निबंधन होता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि दो वस्तुओं में पूर्णसाम्य या सर्वात्मना साम्य हो। यदि दोनों में किंचित् साम्य होगा तब भी उपमालंकार हो सकता है। इसमें दो पदार्थों में भेद के रहने पर भी उनमें अभेद की योजना की जाती है, इसलिए इसे भेदाभेदाप्रधान सादृश्यमूलक अलंकार कहते हैं। उपमा का मूल तत्व है सादृश्य या समानता और सुंदर सादृश्य के कारण ही इसकी स्थिति मनोरम होती है। इसमें सादृश्य कथन के द्वारा ही उपमेय और उपमान एक–दूसरे के निकट आ जाते हैं।

उपमालंकार में, सादृश्य विधान के लिए उपमेय एवं उपमान का भिन्न होना आवश्यक है। अभिप्राय यह कि धर्म या गुणसाम्य के कारण दो पदार्थों में साम्य स्थापन को उपमा कहते हैं। इस अलंकार में उपमेय का अल्प गुणशाली एवं उपमा का उत्कृष्ट गुणवाला होना चाहिए। इसमें एक वाक्य में ही उपमेयोपमान में समता स्थापित की जाती है। उपमा में दो पदार्थों में साधर्म्य रहने पर भी वैधर्म्य के तत्व विद्यमान रहते हैं। मुख को चन्द्रमा के सदृश कहने पर भी मुख चन्द्रमा नहीं हो सकता। दोनों में कतिपय गुण के कारण ही समता दिखाई पड़ती है, इनमें पूर्ण साम्य नहीं रहता।

उपमा के चार अवयव या अंग हैं– उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म या साधारण धर्म। उपमेय का अर्थ है– 'उपमा देने योग्य'। जिस पदार्थ का साम्य अन्य पदार्थ (उपमान) के साथ स्थापित किया जाय, उसे उपमेय कहते हैं। इसके अन्य नाम हैं– वर्ण्य, प्रस्तुत, विषय, प्रकृत, प्राकरणिक एवं प्रासंगिक। जिससे उपमेय की समता की जाती है, उसे उपमान कहते हैं। उपमालंकार में उपमान के साथ उपमेय की तुलना की जाती है। इसके अन्य नाम हैं– अवर्ण्य, अप्रस्तुत, विषयी, अप्रकृत, अप्रासंगिक एवं अप्राकरणिक। जिस गुण के कारण दो पदार्थों में साम्यस्थापना हो, उसे साधारण धर्म कहते हैं। धर्म का अभिप्राय गुण से ही है। उपमेयोपमान के बीच जिन सादृश्यमूलक शब्दों के द्वारा समता दिखाई जाती है, उन्हें वाचक या उपमावाचक कहते हैं। जैसे– सों, सी, इमि, जिमि, तुल्य, लौं आदि।

उपमा का सादृश्य चमत्कारपूर्ण एवं कवि प्रतिभोत्पन्न होना चाहिए। इसमें दो पदार्थों में समता वाच्य होती है, आर्थ या व्यंग्य नहीं। इसके उपमान परम्परा–सिद्ध होते हैं, काल्पनिक नहीं। उत्प्रेक्षालंकार में उपमान कल्पित होते हैं, अतः उससे अंतर दिखाने के लिए उपमा में परम्परा–सिद्ध उपमान का कथन किया जाता है।

उपमा को सभी अर्थालंकारों का मूल कहा गया है। इसे आचार्यों के अलंकारों का जीवातु कहा है। अप्पय दीक्षित ने उपमा को उस नटी के सदृश माना है जो चित्र की भूमिका में विविध रुप में आकर अपनी नृत्यकला से सहृदयों का रंजन करती है। राजशेखर ने इसे अलंकारों का शिरोरत्न, काव्य–संपदा का सर्वस्व तथा कविवंश की जननी कहा है।

कवियों ने अपने काव्यों में अलंकार के अनेक रूपों में प्रवृत्ति को चित्रित किया है। अलंकारों का इतना सुन्दर और सुक्ष्म प्रयोग शायद ही अन्य झारखंडी भाषाओं के कवियों ने किया होगा। उदाहरणार्थ –

जल बिन मीन जस; हम पिया बिन तस,
भाइगे नखे स्वामी के मिलन; रे उदासल मन राइत भइर ....।।''[14]

इस गीत में कवि ने उपमा अलंकार का प्रयोग किया है। वे विरहिणी की तुलना जल बिन तड़पती मछली से की है।

स्मरण :–

पूर्वानुभूत पदार्थ के सदृश अन्य पदार्थ को देखकर उसकी स्मृति का होना स्मरण अलंकार है। स्मरण का अर्थ है– स्मृति। किसी वस्तु को देखकर तत्सदृश (उसके समान) अन्य पदार्थ के स्मरण होने को स्मरण अलंकार कहते हैं। सादृश्य इस अलंकार का प्राण है। इस अलंकार का में पूर्वानुभूत पदार्थ की ऐसी स्मृति अपेक्षित है जिसमें प्रत्यक्ष दृष्ट पदार्थ के साथ पूर्वानुभूत पदार्थ का सादृश्य दिखाई पड़े। इसमें सादृश्य का चमत्कारपूर्ण होना आवश्यक है। स्मरण अलंकार में उपमान को देखकर उपमेय की याद आती है तो यदाकदा उपमेय को भी देखकर उपमान का स्मरण होता है। इसमें सादृश्य के अतिरिक्त वैसा दृश्य के अनुभव में भी अलंकारत्व होता है अर्थात् जैसे सुंदर वस्तु को देखकर सुंदर वस्तु का स्मरण होता है वैसे ही कभी–कभी असुंदर पदार्थ को देखकर वैषम्य के कारण सुंदर वस्तु की भी याद आ जाती है। उदाहरण–

सुधि आवत बृजचन्द की, निरखि सँपूरन चंद। – काव्यनिर्णय

यहाँ पूर्णमासी के चंद्रमा को देखकर कृष्ण की याद आने के वर्णन में स्मरण अलंकार है। इसमें पूर्णचंद एवं कृष्ण के मुख में सादृश्य के कारण ही स्मरण अलंकार है।''[15] नागपुरी कवि लोहरा जी ने भी स्मरण अलंकार का भी प्रयोग किया है –

तरूणी समय पने; पिया नखँय मोर ठने;
कईसेऽ दिल धरब, रे गोईया; पिया परदेस में भुलाय ।।''[16]

प्रस्तुत गीत में प्रेयसी अपनी प्रिय को स्मरण कर अपनी व्यथा को गीत के माध्यम से प्रस्तुत कर रही है।

रूपक :–

उपमेय पर उपमान के निषेध रहित आरोप को रूपकालंकार कहते हैं। 'रूपक' का अर्थ है– रूप का आरोप। इस अलंकार में एक पदार्थ पर अन्य पदार्थ का आरोप कर दोनों में एकरूपता की स्थापना की जाती है अर्थात् उपमान उपमेय को अपना रूप देकर उसके साथ अभेद–संगेध स्थापित कर लेता है। एक पदार्थ का अन्य पदार्थ के साथ अभेद–कथन को 'आरोप' कहते हैं अर्थात् आरोप एक वस्तु में दूसरी वस्तु को इस प्रकार रखने को कहते हैं, जिससे दोनों में किसी प्रकार का अंतर न रह जाय। इस अलंकार में उपमेय उपमान का रूप ग्रहण कर लेता है, इसलिए इसे रूपक कहते हैं। रूपक के तीन भेद हैं– निरंगरूपक, सांगरूपक और परंपरित रूपक।''[17] नागपुरी काव्यों में इसका प्रयोग न के बराबर हुआ हैं।

निरंग रूपक :–

यदि अंगों से रहित उपमेय में केवल उपमान का आरोप हो तो निरंगरूपक होता है। इसका नाम निरवयव भी है। इसमें एक उपमेय में एक उपमान का आरोप किया जाता है। यह रूपक का सर्वाधिक प्रचलित रूप है। जैसे– 'मुखचंद्र', 'चरण कमल' आदि।''[18] गोबिन्द शरण लोहरा के गीतों में भी इस अलंकार का प्रयोग हुआ है। यथा–

कमल नयन हरि; प्रभु दनुजारी; गोई मुकुन्द मुरारी ।।''[19]

उत्प्रेक्षा :–

प्रस्तुत में अप्रस्तुत की संभावना (कल्पना) को उत्प्रेक्षालंकार कहते हैं। 'उत्प्रेक्षा' शब्द उत् + प्र + ईक्षा के योग से निष्पन्न है जिसका अर्थ है– बलपूर्वक देखना या उत्कट रूप से उपमान को देखना। (उत– उत्कृष्ट, प्र– प्रकर्ष, ईक्षा– देखना)।

उत्प्रेक्षा शब्द संभावना या कल्पना का वाचक है। इसमें उत्कृष्ट रूप में प्रकृष्ट या अप्रस्तुत (उपमान) को देखने का वर्णन होता है या उसकी संभावना की जाती है। 'देखना' से यहाँ अभिप्राय संभावना करने का ही है। अतः प्रस्तुत में अप्रस्तुत की संभावना करने का तात्पर्य हुआ प्रस्तुत में (उपमेय में) अप्रस्तुत का (उपमान का) प्रबल ज्ञान होना। उत्प्रेक्षा में संभावना कविकल्पित होनी चाहिए, वास्तविक नहीं।

उपमा में उपमेय और उपमान में समता दिखाई जाती है और रूपक में दोनों में एकरूपता होती है, पर उत्प्रेक्षा में उनके सादृश्य की संभावना की जाती है। संभावना निश्चय और संदेह के बीच की स्थिति को कहते हैं। जिस संशय में दो कोटियों में से एक कोटि उत्कट या निश्चित होती है, उसी संशय को संभावना कहते हैं।

उत्प्रेक्षा सादृश्यमूलक अभेदप्रधान अलंकार है अर्थात् इसमें उपमेय और उपमान में साम्य और अभेद होता है। चूँकि इसमें बलपूर्वक उपमान के साथ उपमेय की समता स्थापित की जाती है, अतः उत्प्रेक्षा में उपमेय गौण और उपमान उत्कट या प्रधान होता है। अभिप्राय यह कि उपमेय में वे सारे गुण विद्यमान हों अथवा नहीं, पर उसकी (उपमेय) संभावना उपमान–रूप में की जाती है।

उपमा की भाँति उत्प्रेक्षा में भी वाचक शब्द प्रयुक्त होते हैं– मानो, जानो, जनु, मनु, इव, निश्चय, प्रायः, मेरे जाने, जान पड़ता है आदि। इसमें तो वाचक शब्द रहता है और कहीं नहीं भी। जहाँ वाचक शब्द होते हैं वहाँ वाच्या उत्प्रेक्षा होती है और वाचक शब्द के अभाव में इसे गम्या या प्रतीयमाना कहते है। यदि कहा जाए कि मुख मानो चंद्रमा है या मुख संभवतः चंद्रमा है तो यह उदाहरण उत्प्रेक्षा का होगा। उत्प्रेक्षा में विशिष्ट या कविकल्पित उपमान की संभावना आवश्यक है। जैसे नीलमणि पर्वत का होना एक विशिष्ट कल्पना है, जो लोक में संभव नहीं है।''[20] कवि लोहरा जी के गीतों में उत्प्रेक्षा अलंकार देखे जा सकते हैं–

काने तरकी छबी; मानो उदीत रबि; उर हार लर डारी,

हायरे हाय; चमचम चमके बेसरी; छेकलँय बाट बनवारी ।।''[21]

अतिशयोक्ति :–

जब उपमान उपमेय को अपने में छिपाकर उसके साथ अभेद स्थापित करे या उपमान के द्वारा की उपमेय की प्रतीति हो तो अतिशयोक्ति अलंकार होता है।

'अतिशयोक्ति' का अर्थ है– अतिशय कथन या बढ़ा–चढ़ाकर कहना। इस अलंकार में उपमेय को छिपाकर, उपमान उसके साथ अभेद स्थापित करता है अर्थात् उपमान उपमेय का निगरण कर लेता है और उपमेय का ज्ञान उपमान के ही द्वारा होता है। उपमान के साथ उपमेय का अभिन्नत्व की अतिशय कथन है। इसमें उपमान द्वारा उपमेय का पूर्णतः निगरण (निगलना) हो जाता है या उपमान उपमेय को निगलकर आत्मसात् कर लेता है। जिस प्रकार निगरण किया गया पदार्थ बिलकुल नहीं दिखाई पड़ता, उसी प्रकार अतिशयोक्ति अलंकार में उपमेय का नाम भी नहीं लिया जाता और वहाँ केवल उपमान ही उपमान रह जाता है। अतिशयोक्ति अलंकार में उपमान प्रधान बनकर उपमेय का अस्तित्व ही नष्ट कर देता है। कवि अपनी कल्पना के चमत्कार से प्रायः विषय–वस्तु का लोक प्रचलित प्रसिद्ध रूप को विस्तृत व्यापक रूप में प्रस्तुत कर देता है। इस प्रकार लोक मर्यादा का अतिक्रमण करने वाली उक्ति अतिशयोक्ति है।''[22]

कवि ने दधि लीला प्रसंग में अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग बखूबी किया है। यथा–

नाना रंगक सारी; दिसँय ईन्द्र परी; दिसँय इन्द्र परी ।।''[23]

पुनरुक्ति प्रकाश :–

जहाँ अभीष्ट भाव को सुंदर बनाने के लिए एक शब्द की अनेक बार आवृत्ति हो, वहाँ पुनरुक्ति–प्रकाश अलंकार होता है। 'पुनरुक्ति' शब्द का अर्थ है– एक बार कथित बात की पुनः आवृत्ति या दुहराना। इसमें कथन (उक्ति) को रुचिकर बनाने के लिए एक शब्द की अनेक बार आवृत्ति की जाती है।

'एक शब्द बहु बार जहँ, परै रुचिरता अर्थ। पुनरुक्ति परकास सो, बरनै बुद्धि समर्थ।।'[24]

कवि ने पुनरूक्ति अलंकार का भी प्रयोग किया है उदाहरण के लिए देखा जा सकता है–

जय जय किसान जय जय जवान; ए भाई परम पावन देश ।।''[25]

गोबिन्द शरण लोहरा जी ने अपनी अलंकार विधान द्वारा भावों, विचारों, पदार्थों एवं घटनाओं के ऐसे–ऐसे मनोहर, मादक एवं मार्मिक चित्र अंकित किए हैं, जो अपनी सरलता एवं स्वाभाविकता के साथ–साथ गतिशीलता एवं प्रभावोत्पादकता में अन्य नागपुरी कवियों के चित्रों से अधिक महत्वपूर्ण जान पड़ते हैं। लोहरा जी का ध्यान सर्वत्र रूपों एवं भावों के संश्लिष्ट चित्रों से अधिक महत्वपूर्ण जान पड़ते हैं। लोहरा जी का ध्यान सर्वत्र रूपों एवं भावों के संश्लिष्ट चित्रों की ओर रहा है, परन्तु कभी–कभी कवि ने एक ही उपमान एवं एक ही अप्रस्तुत की योजना करके अपने रूप एवं भाव को पाठकों एवं श्रोताओं के हृदय में ऐसा अंकित कर दिया है कि वह कभी विस्मृत नहीं हो सकता और पाठक एवं श्रोता कवि की गीतों के माध्यम से उस रूप एवं भाव को ग्रहण करने में सर्वथा सरलता एवं सुगमता का भी अनुभव करते हैं। इन्होंने प्रायः अलंकारों के द्वारा चित्र एवं मूर्ति अंकित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। इसका सबसे बड़ा कारण लोहरा जी का अपना मत ही है, क्योंकि इनके विचार से प्रायः सभी कलाओं के लिए मूर्ति आवश्यक है।

''अप्रतिहत मूर्ति–प्रेम ही कला की जन्म दात्री है, जो भावनापूर्ण सर्वांग सुंदर मूर्ति खींचने में जितना कृतविद्य है, वह उतना ही बड़ा कलाकार है।''[26]

कहने की आवश्यकता नहीं है कि कवि ने अपनी इसी धारणा के अनुसार प्रायः अलंकारों के सहारे बडी सजीव एवं मार्मिक शब्द–मूर्तियाँ अंकित की है। इन शब्द– मूर्तियों में इनका अप्रतिहत मूर्ति–प्रेम स्थान–स्थान पर स्पष्ट लक्षित होता है। इन्होंने भावों के ये शब्द–चित्र अथवा रूप की ये शब्द–मूर्तियाँ कहीं लघु और कहीं विराट् अंकित करके श्रोताओं को अपनी ओर हटात् आकृष्ट कर लिया है। इतना अवश्य है कि कवि की अभिरूचि सदैव लघु रूपों की प्रतिष्ठा की अपेक्षा विराट् रूपों के निर्माण की ओर अधिक रही है। उनका विचार भी यही रहा है कि – ''काव्य में साहित्य के हृदय के दिगंतव्याप्त करने के लिए विराट् रूपों की प्रतिष्ठा करना नितान्त आवष्यक है। अवश्य छोटे रूपों के प्रति यहाँ कोई द्वेष नहीं दिखलाया जा रहा है। रूप की सार्थक लधु विराट् कल्पनाएँ संसार के सुन्दरतम् रंगों से जिस तरह अंकित हो, उसी तरह रूप तथा भावनाओं का अरूप में सार्थक अवसान की आवश्यकता है। कला की यही परिणिति है और काव्य का सबसे अच्छा निष्कर्ष।''[27]

निस्सन्देह अपनी इसी दृढ़ धारणानुसार कवि लोहरा जी ने प्रायः अपने लघु एवं विराट् रूपों के जो भी चित्र अलंकारों के माध्यम से अंकित किये हैं। उनमें सुन्दरतम रंगों के पुट के साथ–साथ उनका अरूप में भी पर्यवसान हुआ है, क्योंकि लोहरा जी के अधिकांश गीतों में व्यापकता एवं विशालता के दर्शन होते हैं तथा वे प्रकृति के चराचर पदार्थों के माध्यम से भावरूपों की ऐसी–ऐसी सजीव कल्पना करते हैं, जिनमें लघुता होते हुए भी महत्ता है, रूप होते हुए अरूपता है और अचेतनता होते हुए भी एक व्यापक चेतना का आभास मिलता है। इसके लिए लोहरा जी ने सर्वाधिक उपमा, रूपक, अतिश्योक्ति, रूपकातिश्योक्ति,

अनुप्रास आदि अलंकारों को अपनाया है और इनकी योजना द्वारा भावों के बड़े ही मार्मिक एवं प्रभावशाली चित्र अंकित किए हैं। लोहरा जी अलंकार–योजना में हिन्दी संस्कृत की परम्परा का ही अनुसरण किया है, फिर भी कवि की यह योजना बड़ी ही मार्मिक है, क्योंकि इसके द्वारा लोहरा जी ने ''नख–शिख'' की प्रणाली को जीवित रखा है और अंग–सौन्दर्य के चित्रण में नागपुरी साहित्य को हिन्दी–संस्कृत साहित्य के समकक्ष पहुँचा दिया है।

अजब सुरइत मन; मोहल हमार; मन मोहल हमार,
मन मोहनी; सुधी आवे पहरे पहर ..... ।।1।।
मुसकी मुसकी बोले; लभ यू डियर हम लभ यू डियर,
मन मोहनी; हर दम भेजबे खभर ..... ।।2।।
गोरी बहियां सोभे; चूड़ी हरियर; हायरे चूड़ी हरियर,
मन मोहनी; धम धम धमके ईतर ..... ।।3।।
युगल मंदीर उर; नयना काजर; हायरे नयना काजर,
मन मोहनी, लचके पतली कमर ..... ।।4।।
जनम जनम दास रहब तोहार; हम रहब तोहार,
मन मोहनी; मति मार कनखी नजर ..... ।।5।।''[28]

लोहरा जी के काव्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का ही प्रधान्य है और ये सभी अलंकारों भावों की विशद् अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुए हैं, केवल भाषा की सजावट के लिए नहीं आए हैं। इनमें कवि की वाणी का सौन्दर्य मुखरित हुआ है, भावों की तरंगे प्रवाहित हुई है और कल्पना का मधुर स्वर गुन्जायमान हुआ है। इनका अलंकार–विधान, दृश्य–चित्रण एवं भाव–निरूपण में बड़ा ही सहायक सिद्ध हुआ है। इन्होंने बड़ी ही सुन्दर एवं सजीव उपमाओं द्वारा दृश्य–विधान किए हैं। जैसे नवयुवती के नख–शिख वर्णन कवि ने उपमा द्वारा सजीवता के साथ स्पष्ट कर दिया है।

हायरे हायरे हाय अबला बाल; मारी कनखी मुसकाल ।
युगल मंदीर उर जोबन उमंग पुर; अभीये लागल सोलह साल रे,
अबला बाल; मारी कनखी मुसकाल ..... ।।
अंखिया मद भरे; बचने अमृत झरे; मस्त जौवन गदराल रे,
अबला बाल; मारी कनखी मुसकाल ..... ।।
देखल बिन एको पल; मोहे न परत कल; रात भर कलपी बेहाल रे,
अबला बाल; मारी कनखी मुसकाल ..... ।।
तोर बिना एको दिना; कठिन हामर जिना; घरबार लागत जवाल रे,
अबला बाल; मारी कनखी मुसकाल ..... ।।''[29]

इतना ही नहीं सोलह साल की नव युवति के उरोजों की तुलना युगल मंदीर से, आँख की तुलना मदीरा से, वाणी की तुलना अमृत से कविवर किए हैं। इन्होंने अपनी उपमाओं द्वारा अंग–सौन्दर्य के चित्रण में सजीवता उत्पन्न की है तथा उपमाओं के सहारे पदार्थों की वस्तुस्थिति का ठीक–ठीक ज्ञान कराया है।

निष्कर्षतः कवि के अलंकार–योजना को देखकर यह सहज रूप से कहा जा सकता है कि योजना अर्थों का उत्कर्ष बढ़ाने में सहायक हुई है, उनका अपकर्ष करने में नहीं। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि जिस प्रकार सहज आभूषण शरीर की शोभा को द्विगुणित कर देते हैं, उसी प्रकार सहज अलंकार–प्रयोग भावोत्कर्ष में सहायक होता है। इनके अलंकार योजना–भावों के अबोध प्रवाह में स्वतः ही प्रवाहित आविर्भूत हुई है, इसके लिए कवि को श्रम नहीं करना पड़ा।

संदर्भ ग्रंथों की सूची :–

1. देवेन्द्र शर्मा, काव्य के तत्व, पृ0 सं0 – 56
2. मम्मट, काव्य प्रकाश, पृ0 सं0 – 409
3. आचार्य विश्वनाथ, साहित्य दर्पण पृ0 सं0 – 273
4. अग्निपुराण, अध्याय 16, 2 श्लोक – 135
5. डॉ. यतिन्द्र तिवारी, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृ0 सं0 – 131
6. मति राम, ललित ललाम, पृ0 सं0 – 42
7. डॉ0 बालेन्द्र शेखर तिवारी, वस्तुनिष्ट काव्य शास्त्र, पृ0 सं0 – 745
8. डॉ0 राजवंश सहाय हीरा, भारतीय आलोचना शास्त्र, पृ0 सं0 – 473
9. अधरतिया राग सम्राट : गोबिन्द शरण लोहरा, सं0 राम कुमार, पृ0 सं0 – 475
10. उपरिवत्, पृ0 सं0 – 158
11. ओंकार नाथ वर्मा अंशुल वर्मा, रस, छंद और अलंकार, पृ0 सं0 – 75
12. अधरतिया राग सम्राट : गोबिन्द शरण लोहरा, सं0 राम कुमार, पृ0 सं0 – 137
13. उपरिवत्, पृ0 सं0 – 154
14. डॉ. राजवंश सहाय हीरा, भारतीय आलोचना शास्त्र, पृ0 सं0 – 503
15. अधरतिया राग सम्राट : गोबिन्द शरण लोहरा, सं0 राम कुमार, पृ0 सं0 – 149
16. डॉ0 राजवंश सहाय हीरा, भारतीय आलोचना शास्त्र, पृ0 सं0 – 506
17. उपरिवत्, पृ0 सं0 – 508
18. अधरतिया राग सम्राट : गोबिन्द शरण लोहरा, सं0 राम कुमार, पृ0 सं0 – 63
19. डॉ. राजवंश सहाय हीरा, भारतीय आलोचना शास्त्र, पृ0 सं0 – 523
20. अधरतिया राग सम्राट : गोबिन्द शरण लोहरा, सं0 राम कुमार, पृ0 सं0 – 86–87
21. डॉ. राजवंश सहाय हीरा, भारतीय आलोचना शास्त्र, पृ0 सं0 – 529
22. अधरतिया राग सम्राट : गोबिन्द शरण लोहरा, सं0 राम कुमार, पृ0 सं0 – 85
23. डॉ. राजवंश सहाय हीरा, भारतीय आलोचना शास्त्र, पृ0 सं0 – 485
24. अधरतिया राग सम्राट : गोबिन्द शरण लोहरा, सं0 राम कुमार, पृ0 सं0 – 125
25. प्रबन्धपद्म, पृ0 सं0 – 151
26. उपरिवत्, पृ0 सं0 – 154
27. अधरतिया राग सम्राट : गोबिन्द शरण लोहरा, सं0 राम कुमार, पृ0 सं0 – 141–142
28. उपरिवत्, पृ0 सं0 – 142